E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
IJPSG 2020; 2(2): 89-91
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 18-05-2020
Accepted: 20-06-2020

डॉ. प्रतिमा कुमारी
पूर्व शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड, भारत

Corresponding Author:
डॉ. प्रतिमा कुमारी
पूर्व शोधार्थी, विश्वविद्यालय राजनीति विज्ञान विभाग, विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड, भारत

विनोबा भावे की दृष्टि में : जीवन और शिक्षण

डॉ. प्रतिमा कुमारी

सारांश
विनोबाजी ने धर्म को आध्यात्म से अलग माना। वे आध्यात्म को व्यावहारिक व निरपेक्ष मानते थे। उनका विचार था कि– 'विज्ञान के युग में धर्म नहीं टिकेगा, परन्तु आध्यात्मिकता जरूर टिकेगी।' उन्होंने आध्यात्मिकता को मानवता से जोड़ा। विनोबाजी का सर्वोदय दर्शन गांधीजी के सिद्धान्तों पर आधारित था। सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ–सबका उदय, सभी व्यक्तियों का विकास है। शिक्षण कर्तव्य का, कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने–अनजाने यह मिलता है। मानवों को भी यह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को यह ठोकरें खा–खाकर मिलता है।

कुटशब्दः जीवन, शिक्षण, आध्यात्मिकता

प्रस्तावना

यह भारत–भूमि अपने उन महान् विचारकों, समाजसुधारकों, सन्तों के कारण जानी जाती है, जिन्होंने अपने कार्यों, विचारों एवं जीवन–दर्शन से अपने देश को नहीं, अपितु विश्व को भी नयी प्रेरणा एवं विचारशक्ति प्रदान की है। ऐसे ही सन्त, समाज–सुधारक, राजनीतिज्ञ, शैक्षिक दर्शन के लिए जाने जाते हैं– सन्त विनोबा भावे।

संत आचार्य विनोबा भावे का जन्म 11 सितम्बर, सन् 1895 ई. में महाराष्ट्र के गगोदा ग्राम में हुआ था। इनका पूरा नाम विनायक राव भावे था। ये बड़े मेधावी छात्र थे। अपने विद्यार्थी जीवन में इन्होंने गणित और संस्कृत विषय में दक्षता प्राप्त की। आजीवन अविवाहित रहकर विनोबा भावे जी ने देश की सेवा की। बहुत दिनों तक ये महात्मा गांधी के सम्पर्क में रहे। इन्होंने सर्वोदय, बुनियादी शिक्षा और भूदान आन्दोलन के द्वारा राष्ट्र को सही मार्ग दर्शन प्रदान किया। विनोबाजी प्रवचन–शैली में निबन्ध लिखते थे। इनकी प्रमुख पुस्तकें है– गीता प्रवचन, विनोबा के विचार, जीवन और शिक्षण, गाँव सुखी हम सुखी. भूदान यज्ञ आदि। इनका देहावसान 15 नवम्बर, सन् 1982 ई. को हुआ था।[1]

इन्होंने सबसे पहले शिक्षा–पद्धति के विषय में कहा– 'आज की विचित्र शिक्षा– पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। पन्द्रह से बीस वर्ष तक आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा प्राप्त करे और बाद में, शिक्षण को बस्ते में लपेटकर रख, मरने तक जिये।'[2]

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथ–भर लम्बाई का बालक साढ़े तीन हाथ कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम–क्रम से, थोड़ी–थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भास तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये, तब दो फुट ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गयी। आज की शिक्षण–पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिल्कुल आखिरी दिन तक मनुष्य, जीवन के विषय में पूर्ण रूप से गैर–जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं! यही नहीं, उसे गैर–जिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। सम्पूर्ण गैर–जिम्मेदारी से सम्पूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान कूद ही हुई। ऐसी हनुमान कूद की कोशिश में हाथ–पैर टूट जाये, तो क्या अचरज![3]

भगवान् ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में ही भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता का 'उपदेश' देकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं, उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान में मौत की ही तैयारी होती है।[4]

बीस वर्ष का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह–तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है। 'मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं वाल्मीकि–सा कवि बनूँगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूँगा।' एक, दो, चार–जाने क्या क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़े को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का क्या नतीजा निकलता है?

जब नोन–तेल–लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तब बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया।

मैट्रिक पास एक विद्यार्थी से पूछा– 'क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?' 'आगे क्या'? कालेज में जाऊँगा।' 'ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।' 'सवाल तो बना रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाय, आगे देखा जायेगा।'

फिर तीन साल बाद विद्यार्थी से वही सवाल पूछा– 'अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।' 'विचार नहीं हुआ, यानी? लेकिन, विचार किया था, क्या?' 'नहीं साहब विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता ही नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायेगा।' 'आगे देखा जायेगा।'– ये वही शब्द है, जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी। आज की आवाज में थोड़ी चिन्ता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से– अथवा कहो, अब 'गृहस्थ' से– वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिन्ताक्रान्त था। आवाज की बेफिक्री गायब थी। 'ततः किं?' यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर उसका जबाब नहीं था।[5]

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई निरीह मौत नहीं है और मौत कौन ऐसी बड़ी मौत है? अनुभव के अभाव से यह सारा हौआ है। जीवन और मरण दोनों आनन्द की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परम प्रिय पिता ने– ईश्वर ने– वे हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर, हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है, जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की जिन्दगी चाहेगा? तिस पत ईश्वर के प्रेम और करुणा का कोई पार है? वह अपने लाड़ले बच्चों के लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानियों और झंझटों से भरा जीवन रचेगा? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष देखिए न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है, उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इन्तजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है, तो ईश्वर ने हवा की अधिक सुलभ किया है। जहाँ नाक है, वहाँ हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। ईश्वर की ऐसी प्रेम–पूर्ण योजना है। इसका ख्याल न करके हम निकम्मे, जड़ जवाहरात जमा करने में जितने जड़ बन जायें, उतनी तकलीफ हमें होगी। पर, यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नहीं।[6]

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जीओ। पर, अगर जीने लायक वस्तु हो, तो लड़को को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्‌गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गयी, वैसी शिक्षा जीवन–क्षेत्र में देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है'– यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं वह मिल सकती है।[7]

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए 'भगवद्‌गीता' निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि–शास्त्र अथवा पदार्थ–विज्ञान की या दूसरी चीज की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहाँ जरूरत हो, रसायन–शास्त्र सिखाओ। पर, असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने' दो। व्यवहार में लाभ करने वाले आदमी को शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चे को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्गदर्शन कराने वाले मनुष्य मौजूद हों। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम–लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा करने के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ–रक्षक के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर, यह बताना हो कि राम–लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ–रक्षा' की। 'शिक्षण प्राप्त किया', नहीं कहा जायेगा। पर, शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।[8]

शिक्षण कर्तव्य का, कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने–अनजाने यह मिलता है। लड़कों को भी यह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को यह ठोकरें खा–खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आयी है। इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पायें और धीरे–धीरे वे स्वालम्बी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। 'शिक्षण फल है' और 'मा फलेषु कदाचन'–यह मर्यादा फल के लिए भी लागू है– खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना, यह भी काम हुआ और उसमें भी 'इदमद्यमया लब्धम्'– आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'– कल वह पाउँगा इत्यादि वासनाएँ आती ही रहती हैं।[9] इसीलिए इस 'शिक्षण मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसी की सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षण के लोभ से मुझे माता की सेवा करनी है। यह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा, माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज– जिसे मैं शिक्षण समझता हूँ– वह जाती है, तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।[10]

प्राथमिक महत्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षण–शास्त्रियों को इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायें, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज पेट भरने का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबड़ाकर यह कहा जाता है और कुछ हद तक वह ठीक है। पर, मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' मनुष्य साध ले, तो समाज के बहुतेरे दुख और पातक नष्ट हो जाये। इसी से मुनि ने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः'[11]– जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है' यह यथार्थ उद्‌गार प्रकट किया है। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जिये, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर–यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसी से शरीर–यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदरभरण नोहे, जाणिजे यज्ञ कम' यह उदर–भरण नहीं है, इसर यज्ञ कर्म जान। वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है।[12]

अतः मैं शरीर यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ यह भावना उचित है। शरीर यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज–शरीर की यात्रा, यह अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर–यात्रा, यानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और, इस ईश्वर–सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हर एक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए अपनी शक्तिभर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए।[13]

निष्कर्ष

विनोबाजी ने शिक्षा को एक आन्तरिक प्रक्रिया माना है, बाह्य ज्ञान नहीं। वे शिक्षा का उद्देश्य बालक को उत्तम संस्कार देने के

साथ–साथ शरीर, मन, आत्मा का विकास मानते थे। सामाजिक विकास सभी व्यक्तियों का विकास, आर्थिक स्वावलम्बन का विकास, जीवन जीने की कला का विकास, आध्यात्मिक विकास उनके शैक्षिक उद्देश्य थे। बालक के पाठ्यक्रम में सामाजिकता के विकास तथा वर्धा शिक्षा योजना के पाठ्यक्रम को महत्त्व दिया। क्रियात्मक विधि, श्रुत विधि, विश्रामसहित शिक्षण, भ्रमण विधि को श्रेष्ठ शिक्षण विधि माना। स्त्रियों की शिक्षा पर उन्होंने विशेष बल दिया।

सन्दर्भ

1. गाँव सुखी हम सुखी, पृ.–12
2. जीवन और शिक्षण, पृ.–37–38
3. जीवन और शिक्षण, पृ.–72–73
4. गीता प्रवचन, भूमिका, पृ.–5
5. जीवन और शिक्षण, पृ.–67
6. जीवन और शिक्षण, पृ.–109
7. जीवन और शिक्षण, पृ.–112–113
8. गीता प्रवचन, पृ.–7
9. विनोबा के विचार, पृ.–19
10. जीवन और शिक्षण, पृ.–109
11. गीता प्रवचन, पृ.–8
12. जीवन और शिक्षण, पृ.–88
13. जीवन और शिक्षण, पृ.–17–18